प्रथम संस्करण १९४७

क़ीमत : १॥। रु.

नेशनल इन्फ़रमेशन ऐण्ड पब्लिकेशन्स लिमिटेड, नेशनल
हाऊस, ६, तुलक रोड, अपोलो बंदर, बम्बई-१, के लिए कुसुम नैयर
द्वारा प्रकाशित और वि. पु भागवत द्वारा मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
गिरगाव, बम्बई, मे मुद्रित.

विषय-सूची

भूमिका

बुन्देलखंड की इस शस्य-श्यामला प्राकृतिक दृश्यो से परिपूर्ण मनोहर भूमि मे नौ वसन्त बीत चुके और अब दसवां बार हम आम्र-मंजरी के दर्शन कर रहे हैं। गत वर्ष तो पलाश के सुन्दर पुष्पो की तलाश मे हमने निकटस्थ मधुवन के बीसियो चक्कर लगाये थे, और जिस दिन १४ फरवरी को जब प्रथम पुष्प के दर्शन हुए थे तब एक उत्सव सा मनाया था। गत नौ वर्षों से एक प्रश्न हमारे मन को चिन्तित कर रहा है :—

"इस जन पद के साहित्यिक उपवन मे वसन्त का आगमन कब और कैसे होगा ?"

साहित्यिक दृष्टि से बुन्देलखंड का अतीत काल गौरव से परिपूर्ण था। जिस भूमि को, बारह वर्ष रह कर, भगवान रामचन्द्र ने अपने चरणो से पवित्र किया था उसकी महिमा का क्या कहना ! स्वर्गीय बन्धुवर घासीरामजी 'व्यास' ने चन्द्रमा से ठीक ही अनुरोध किया था:—

"लखन विदेहजा समेत वनबासी राम,
बास किये ह्याँई, सोच शान्ति सरसाइ लेहु,
ए हो शशि ! परम पुनीत पुण्यभूमि यह
नैनन निहार नेकु हिय सियराय लेहु ॥"

और कविवर स्वर्गीय मुंशी अजमेरी जी के शब्दो मे:—

"तुलसी, केशव, लाल बिहारी, श्रीपति, गिरधर,
रस निधि राय प्रवीन, पजन, ठाकुर पद्माकर,
कविता-मन्दिर-कलश सुकवि कितने उपजाये,
कौन गिनावे नाम जोय जिसने गुण गाये,
यह कमनीया काव्य कलाकी नित्य भूमि है,
सदा रम्य बुन्देलखंड साहित्य भूमि है।"

जिस भूमि मे महाकवि तुलसी और आचार्य केशवदास जी से लेकर कलाविद मुंशी अजमेरी जी तथा कविवर रसिकेन्द्र जी तक जिन्ने

ही कवि और लेखक हुए हैं और जिसमें आज भी दो तीन चोटी के कवि और लेखक पाये जाते हैं—यथा, श्रद्धेय गुप्त बन्धु और बन्धुवर वृन्दावनलाल जी वर्मा—वह साहित्यिक दृष्टि से रेगिस्तान क्यों बनी हुई है ? हमारे क्षुद्रातिक्षुद्र जीवन के ३० वर्ष भारत के भिन्न भिन्न जनपदों मे व्यतीत हुए हैं—मालवा, बंगाल, गुजरात तथा बुन्देलखंड मे—और व्रजवासी होने के कारण हम अपने व्रजमंडल के साहित्य क्षेत्र से परिचित हैं ही। एक बात हमे निस्संकोच कहनी पड़ेगी कि बुन्देलखंड के लेखको तथा कवियों का जीवन जितना संघर्षमय है उतना अन्य किसी हिन्दी जनपद के साहित्यिको का शायद ही होगा। जो साधन तथा सम्पर्क अन्य जनपदो के कवियो तथा लेखको के लिये सुलभ हैं उनके लिये यहाँ अच्छे से अच्छे कलाकार तरसते रहते हैं। केन्द्र से दूरी, यातायात के साधनों का अभाव, प्रवास-भीरुता, आर्थिक कठिनाई, दानियों का अविवेक, सफल साहित्यिको का उपेक्षा भाव, एक अच्छे प्रेस का न होना, इत्यादि कितने ही कारण इस विषम परिस्थिति के हो सकते हैं, पर यह बात निर्विवाद सत्य है कि उचित प्रोत्साहन के अभाव में बुन्देलखंड की साहित्य-वाटिका प्रायः उजड़ी हुई पड़ी है। इस कण्टकाकीर्ण वाटिका मे जब हमे किसी नवीन कोपल के दर्शन होते हैं; अपने मार्ग के झाड़ झंखड़ो को हटाता हुआ कोई नवीन विरवा दृष्टिगोचर होता है तो हृदय हर्षमिश्रित चिन्ता से अभिभूत हो जाता है—हर्ष उसके हार्दिक स्वागत करने के लिये, और चिन्ता उसके भविष्य के विषय मे।

वर्तमान काव्य-ग्रंथ "स्रोतस्विनी" के लेखक श्रीयुत 'दिव्य' जी यद्यपि हिन्दी क्षेत्र के लिये नवीन नहीं हैं—उनकी दोहावली कई वर्ष पहले छप चुकी है और उनकी कवितायें भी हिन्दी के प्रतिष्ठित पत्रो मे समय समय पर प्रकाशित होती रहती हैं—तथापि उनका काव्य संग्रह पहली बार ही जनता के सन्मुख आ रहा है।

हम कवि नहीं, कविता-मर्मज्ञ नहीं, और रसज्ञ आलोचक भी नहीं। हमारा क्षेत्र ही दूसरा है। चित्र से कहीं अधिक हमें उसकी पृष्ठ

भूमि आकर्षित करती है, और रचनाओ के पीछे जो व्यक्तित्व छिपा रहता है, उसी के अध्ययन करने मे हमें आनन्द आता है । हम तो गंगोत्री मे भागीरथी के दर्शन करना चाहते हैं । प्रयाग-काशी मे पुण्य लूटने वालों की कमी नहीं। इसलिये 'स्रोतस्विनी' के यशस्वी लेखक के व्यक्तित्व का अध्ययन करना, उसकी कविताओं के पीछे जो भावना है उसे तलाश करना, हमारे लिये उसकी आलोचना की अपेक्षा अधिक आकर्षक है । गत नौ वर्षों से 'दिव्य' जी से हमारा परिचय रहा है, और हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि उनके संघर्षमय प्रगति शील जीवन से हम काफी प्रभावित हुए हैं । यद्यपि प्राचीन ऋषियो ने नदियों के मूलान्वेषण की मनाई कर दी थी'—

"नदीनामग्निहोत्राणा भारतस्य कुलस्य च
मूलान्वेषो न कर्तव्यो मूल दोषेण हीयते

अर्थात्. नदी, अग्निहोत्र भारत और कुल का अनुसधान नहीं करना चाहिये करने से वह दोष से हीन हो जाता है ।

फिर भी हम 'स्रोतस्विनी' के स्रोत तक पहुँचने के इच्छुक हैं । 'स्रोतस्विनी' की तीन धाराओं मे हमने अवगाहन किया है—प्रारम्भ मे निराशा रूपी यमुना की काली धारा, तत्पश्चात आशारूपी गगा की उज्ज्वल श्वेत धारा, और अन्त मे विश्वास की सरस्वती। इस त्रिवेणी के मार्ग मे जो बाधायें-चट्टाने-आई हैं, उन्होंने उसके गौरव को और भी बढा दिया है ।

यदि किसी मगर-शिशु को छोटे से गढे मे-अथवा कुए मे-डाल दिया जाय तो उसके चित्त मे जो उद्विग्नता होगी, वही उद्विग्नता बुन्देलखंड की किसी छोटी सी रियासत मे उत्पन्न महत्त्वाकाक्षी नवयुवक के हृदय मे निरन्तर होती रहती है । कुए मे सन्तरण-कला का अभ्यास करना आसान है, बुन्देलखंडी रियासत मे उत्पन्न हो कर अपने व्यक्तित्व का विकास करना मुश्किल । जिन कठिन परिस्थितियो मे से 'दिव्य' जी गुजरे हैं और अब भी जिनका वे सामना कर रहे हैं, उनकी कल्पना करते हुए हमारा तो दिल कांप जाता है । एन्ट्रेस, एफ. ए., बी ए. और एम्. ए. की परीक्षायें उन्होंने प्राइवेट तौर पर ही पास की हैं । यह कार्य कितना

कठिन है इसे मुक्तभोगी ही जान सकते हैं। एफ ए पास करने के बाद बहुत वर्षों तक हमारी यही अभिलाषा बनी रही कि प्राइवेट परीक्षा देकर बी. ए पास कर लें, पर हिम्मत ही नही हुई। अध्यापन कार्य मे ६ घंटे दिमाग पच्ची करने के बाद परीक्षा की तैयारी करना विरले ही साहसी युवकों का काम है और फिर 'दिव्य' जी की प्रतिभा एकाङ्गी नहीं। उन्होंने चित्र-कला का भी अच्छा अभ्यास किया है। काव्य के साथ साथ एकाङ्की नाटक तथा उपन्यास क्षेत्र मे भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। जब हम इस बात की कल्पना करते हैं कि किन किन प्रतिकूल परिस्थितियों मे 'दिव्य' जी अपनी बहुमुखीन प्रतिभा को विकसित करने का प्रयत्न करते रहे हैं तो श्रद्धा से उनके सन्मुख नत मस्तक हो जाते हैं।

बडे आदमियों के लड़के जिन चीजों को आसानी से प्राप्त कर लेते हैं उनके लिये साधन हीन मातापिताओं की सन्तानों को कठोर साधना करनी पडती है! हमारे पूज्य पिताजी को पूरे ५५ वर्ष तक (१८७५ से १९३० तक) मुदर्रिसी करनी पडी थी—औसतन् ८-१० रुपये मासिक वेतन पर ग्राम स्कूलों मे उन्होंने अध्यापन कार्य किया था! इसलिये हम अल्प वेतन भोगी अध्यापकों की कठिनाइयों का भली भाँति अनुमान कर सकते हैं।

जब 'दिव्य' जी कहते हैं—

"दिन भर मारा सिर दफ्तर मे,
दिन भर की कुछ खाना पूरी,
तब भी खाना हुआ न पूरा,
सब इच्छाएँ बनी अधूरी।"

तो वे किसी की सुनी-सुनाई बात नही दोहराते, बल्कि अपनी कटु अनुभूति को ही सीधे सादे शब्दों मे अंकित कर देते हैं।

जर्मनी के महाकवि गेटे ने कहा था – "लेखक को चाहिये कि वह उन्हीं बातों को लिखे जिन्हे वह स्वयं जानता है। अन्दाज तो मे भी बहुत भिडा सकता हूँ।"

सन्तोष की बात है कि 'दिव्य' जी भुक्तभोगी की अनुभूतियॉ ही लिखते हैं, अन्दाज नहीं भिडाते।

अपनी इस धनधान्य पूर्ण भूमि बुन्देलखंड मे जहॉ घी दूध की नदियॉ बहनी चाहिये थी और जहॉ के नवयुवकों के चेहरों पर तेजस्विता होनी चाहिये थी, 'दिव्य' जी को नित्य प्रति पचीसो बालको के तेजोविहीन मुखो के दर्शन होते है–उन बालकों के, जिनमे ९९ फी सदी को आगे चल कर १०–१५ रु. मासिक से अधिक वेतन नही मिलेगा और जिनका भविष्य अमावस की रात की तरह अन्धकार मय है, तो सहसा 'दिव्य' जी के मुख से ये उद्गार निकल पडते हैः—

" दिनभर देखी हैं वे ऑखे,
जिनमे कहीं प्रकाश नहीं था,
जीवन की लहरों का उज्ज्वल
शोभित हास विलास नहीं था,
हास विलास भरे इस मन को
कैसे कहो हँसाऊँ रोकर ? "

'दिव्य' जी की कविताओं की यह खूबी है कि उनमे कहीं दम्भ नहीं है वे उनके हृदगत भावो का सच्चा प्रतिबिम्ब हैं। 'दिव्य' जी अपनी अन्तरात्मा के प्रति ईमानदार हैं, और इसी कारण वे पाठकों के प्रति भी ईमानदार हैं।

जिस निराशामय परिस्थिति में से 'दिव्य' जी को गुजरना पडा है, उसका प्रतिबिम्ब 'स्रोतस्विनी' की निम्न लिखित पंक्तियो में देख पड़ता है।

" नही श्वास लेने को भी है–दिशा दूसरी नूतन "
" युवक मुझे कहती है दुनिया–है न कही पर यौवन "
" अपने ही को पाल रहा हूँ–जैसे तैसे खाकर रोटी "
" कितनी छोटीमिली कुटी भी–लगता सतत शीशपर छप्पर "
" बह सब गया नयन जल बनकर,
लहराते सपनो का सागर "

कठिन है इसे मुक्तभोगी ही जान सकते हैं। एफ ए. पास करने के बाद बहुत वर्षों तक हमारी यही अभिलाषा बनी रही कि प्राइवेट परीक्षा देकर बी. ए. पास कर ले, पर हिम्मत ही नहीं हुई। अध्यापन कार्य में ६ घंटे दिमाग पच्ची करने के बाद परीक्षा की तैयारी करना विरले ही साहसी युवकों का काम है और फिर 'दिव्य' जी की प्रतिभा एकाङ्गी नहीं। उन्होंने चित्र-कला का भी अच्छा अभ्यास किया है। काव्य के साथ साथ एकाङ्की नाटक तथा उपन्यास क्षेत्र मे भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। जब हम इस बात की कल्पना करते हैं कि किन किन प्रतिकूल परिस्थितियो मे 'दिव्य' जी अपनी बहुमुखीन प्रतिभा को विकसित करने का प्रयत्न करते रहे है तो श्रद्धा से उनके सन्मुख नत मस्तक हो जाते हैं।

बडे आदमियो के लड़के जिन चीजों को आसानी से प्राप्त कर लेते हैं उनके लिये साधन हीन मातापिताओं की सन्तानो को कठोर साधना करनी पडती है। हमारे पूज्य पिताजी को पूरे ५५ वर्ष तक (१८७५ से १९३० तक) मुदर्रिसी करनी पडी थी—औसतन् ८–१० रुपये मासिक वेतन पर ग्राम स्कूलो मे उन्होने अध्यापन कार्य किया था। इसलिये हम अल्प वेतन भोगी अध्यापको की कठिनाइयो का भली भाँति अनुमान कर सकते है।

जब 'दिव्य' जी कहते हैं—

> "दिन भर मारा सिर दफ्तर मे,
> दिन भर की कुछ खाना पूरी,
> तब भी खाना हुआ न पूरा,
> सब इच्छाएँ बनी अधूरी।"

तो वे किसी की सुनी-सुनाई बात नही दोहराते, बल्कि अपनी कटु अनुभूति को ही सीधे सादे शब्दो मे अंकित कर देते हैं।

जर्मनी के महाकवि गेटे ने कहा था – "लेखक को चाहिये कि व उन्हीं बातो को लिखे जिन्हे वह स्वयं जानता है। अन्दाज तो मै भ बहुत भिडा सकता हूँ।"

सन्तोष की बात है कि 'दिव्य' जी भुक्तभोगी की अनुभूतियाँ ही लिखते हैं, अन्दाज नहीं भिडाते।

अपनी इस धनधान्य पूर्ण भूमि बुन्देलखंड मे जहाँ घी दूध की नदियाँ बहनी चाहिये थीं और जहाँ के नवयुवकों के चेहरों पर तेजस्विता होनी चाहिये थी, 'दिव्य' जी को नित्य प्रति पचीसो बालको के तेजोविहीन मुखों के दर्शन होते हैं—उन बालकों के, जिनमे ९९ फ़ी सदी को आगे चल कर १०–१५ रु. मासिक से अधिक वेतन नहीं मिलेगा और जिनका भविष्य अमावस की रात की तरह अन्धकार मय है, तो सहसा 'दिव्य' जी के मुख से ये उद्गार निकल पडते हैं:—

" दिनभर देखी हैं वे आँखे,
जिनमें कहीं प्रकाश नहीं था,
जीवन की लहरों का उज्ज्वल
शोभित हास विलास नहीं था,
हास विलास भरे इस मन को
कैसे कहो हँसाऊँ रोकर ? "

'दिव्य' जी की कविताओ की यह खूबी है कि उनमे कहीं दम्भ नहीं है वे उनके हृदगत भावो का सच्चा प्रतिबिम्ब हैं। 'दिव्य' जी अपनी अन्तरात्मा के प्रति ईमानदार हैं, और इसी कारण वे पाठकों के प्रति भी ईमानदार हैं।

जिस निराशामय परिस्थिति मे से 'दिव्य' जी को गुजरना पडा है, उसका प्रतिबिम्ब 'स्रोतस्विनी' की निम्न लिखित पंक्तियों मे देख पडता है।

" नहीं श्वास लेने को भी है—दिशा दूसरी नूतन "
" युवक मुझे कहती है दुनिया—है न कहीं पर यौवन "
" अपने ही को पाल रहा हूँ—जैसे तैसे खाकर रोटी "
" कितनी छोटीसिटी कुटी भी—लगता सतत शीशपर छप्पर "
" ढह ढह गया नयन जल बनकर,
हहराते सपनों का सागर "

"भाव निचाई का नित अपनी,
बन कर कॉटा सा है गड़ता।"

ये पंक्तियॉ अकेले दिव्य जी की ही नहीं, बुन्देलखंड की रियासतो के सहस्त्रों युवको की मनोवृत्ति को चित्रित करती हैं। जहॉ अन्य युवक झुंझलाहट मे आकर अपनी असीम वेदना को सहते सहते बिल्कुल निष्प्राण हो जाते हैं, 'दिव्य' जी ने आत्मप्रकटीकरण (Self-expression) का आश्रय लेकर कविता मे अपने मानसिक संघर्ष का चित्रण कर दिया है। इस प्रकार दिव्य जी ने अपने जन पद के मूक युवको को मानो वाणी प्रदान कर दी है।

बकौल टालसटाय:– "The only refuge from despair is to project one's ego into the world"

अर्थात्–"निराशा से बचने का एक ही उपाय है, वह यह कि अपने अहं का विश्व मे विस्तार कर देना," और 'दिव्य' जी ने इसी ढंग से अपने को कुछ सान्त्वना प्रदान की है।

यहॉ पर यह बात हमे कहनी पडती है कि दिव्य जी की निराशा कभी कभी बड़ी गम्भीर हो उठती है, और उस समय तो सचमुच चित्त उद्विग्न हो उठता है जब वे कहते हैं–

"कभी कभी लगता यो मन मे,
मर के भी तो देखूं क्षण को,
क्या होता है तन में,

निस्सन्देह यह निराशा की पराकाष्ठा है।

सन्तोष इसी बातका है कि स्वयं 'दिव्य' जी ने आगे चलकर इस निराशा से मुक्त होने का उपाय भी बतला दिया है। मानो अपनी इस बीमारी का इलाज भी वे स्वयं ही प्रकट कर रहे हैं—

"क्यों तू घर मे बैठा रोता
निकल देख घर से भी बाहर
प्रकृति बीच क्या होता।"

" खुल से जाते बन्धन मन के
आते ही लघु घडी एक को
नीचे खुले गगन के। "
" घर में सदा घिरे रहने से
भला घडीभर ढोर चराना
किसी विपिन मे जहाँ प्रकृति का
मिलता अनुपम खुला खजाना
गीत निकलते खुले हृदय से
किसी खुले जीवन के। "

पर हमारी समझ मे चित्त की निराशा दूर करने की ये दोनों औषधियाँ ('अहं का विस्तार' तथा 'प्रकृति का सम्पर्क') अधूरी ही है। इन्हें हम रामबाण औषधि नहीं कह सकते। जब तक हम दोनों क्षेत्रो मे—भावना के क्षेत्र मे तथा कार्यक्षेत्र मे भी—स्वाधीनता के लिये संघर्ष करनेवाली जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर नही चलते, तब तक हमारी आत्मा को चिरस्थायी शान्ति नहीं मिल सकती। हम इस बात को हर्गिज न भूलें कि यह कोई व्यक्तिगत प्रश्न नही है, समस्त समाज का सामूहिक प्रश्न है।

हमको तथा हमारे साथी सहस्रो नवयुवको को अपने यथेष्ट विकास के साधन कैसे उपलब्ध हो? हम लोग अपनी रुचि के क्षेत्रों मे अधिक से अधिक उन्नति कैसे करे?

इस प्रश्न को हल करने के लिये हमे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मे ही आमूल परिवर्तन करना होगा। जिन लोगो ने अन्याय पूर्वक द्रव्योपार्जन के समस्त साधनो पर काबू कर रक्खा है और जो अपने भोगविलासमय जीवन मे इतने मस्त हो गये हैं कि लक्षो—करोडों शोषितों की आवाज जिनके कानो तक पहुंच भी नही पाती, उन्हे अपने अनीतिमय जीवन से ज़बरदस्ती निकाल बाहर करना होगा। और यह कार्य एक दो या दस बीस आदमियो का नहीं है। विश्व की उन सभी विचारधाराओ से हमे अपने को परिचित रखना चाहिये,

"भाव निचाई का नित अपनी,
बन कर काँटा सा है गडता।"

ये पंक्तियाँ अकेले दिव्य जी की ही नहीं, बुन्देलखंड की रियासतों के सहस्रों युवकों की मनोवृत्ति को चित्रित करती हैं। जहाँ अन्य युवक झुंझलाहट में आकर अपनी असीम वेदना को सहते सहते बिल्कुल निष्प्राण हो जाते हैं, 'दिव्य' जी ने आत्मप्रकटीकरण (Self-expression) का आश्रय लेकर कविता में अपने मानसिक संघर्ष का चित्रण कर दिया है। इस प्रकार दिव्य जी ने अपने जन पद के मूक युवकों को मानो वाणी प्रदान कर दी है।

बकौल टाल्सटायः– "The only refuge from despair is to project one's ego into the world"

अर्थात्–" निराशा से बचने का एक ही उपाय है, वह यह कि, अपने अहं का विश्व में विस्तार कर देना," और 'दिव्य' जी ने इसी ढंग से अपने को कुछ सान्त्वना प्रदान की है।

यहाँ पर यह बात हमें कहनी पड़ती है कि दिव्य जी की निराशा कभी कभी बड़ी गम्भीर हो उठती है, और उस समय तो सचमुच चित्त उद्विग्न हो उठता है जब वे कहते हैं–

"कभी कभी लगता यों मन में,
मर के भी तो देखूं क्षण को,
क्या होता है तन में,

निस्सन्देह यह निराशा की पराकाष्ठा है।

सन्तोष इसी बातका है कि स्वयं 'दिव्य' जी ने आगे चलकर इस निराशा से मुक्त होने का उपाय भी बतला दिया है। मानो अपनी इस बीमारी का इलाज भी वे स्वयं ही प्रकट कर रहे हैं—

"क्यों तू घर में बैठा रोता
निकल देख घर से भी बाहर
प्रकृति बीच क्या होता।"

" खुल से जाते बन्धन मन के
आते ही लघु घडी एक को
नीचे खुले गगन के।"
" घर मे सदा घिरे रहने से
भला घडीभर ढोर चराना
किसी विपिन मे जहॉ प्रकृति का
मिलता अनुपम खुला खजाना
गीत निकलते खुले हृदय से
किसी खुले जीवन के।"

पर हमारी समझ मे चित्त की निराशा दूर करने की ये दोनों औषधियॉ ('अहं का विस्तार' तथा 'प्रकृति का सम्पर्क') अधूरी ही हैं। इन्हे हम रामबाण औषधि नहीं कह सकते। जब तक हम दोनों क्षेत्रो मे—भावना के क्षेत्र मे तथा कार्यक्षेत्र मे भी—स्वाधीनता के लिये संघर्ष करनेवाली जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर नही चलते, तब तक हमारी आत्मा को चिरस्थायी शान्ति नहीं मिल सकती। हम इस बात को हर्गिज न भूले कि यह कोई व्यक्तिगत प्रश्न नही है, समस्त समाज का सामूहिक प्रश्न है।

हमको तथा हमारे साथी सहस्रो नवयुवको को अपने यथेष्ट विकास के साधन कैसे उपलब्ध हो? हम लोग अपनी रुचि के क्षेत्रो मे अधिक से अधिक उन्नति कैसे करे?

इस प्रश्न को हल करने के लिये हमे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था मे ही आमूल परिवर्तन करना होगा। जिन लोगो ने अन्याय पूर्वक द्रव्योपार्जन के समस्त साधनों पर काबू कर रक्खा है और जो अपने भोगविलासमय जीवन मे इतने मस्त हो गये हैं कि लक्षों—करोड़ों शोषितों की आवाज़ जिनके कानों तक पहुॅच भी नहीं पाती, उन्हे अपने अनीतिमय जीवन से ज़बरदस्ती निकाल बाहर करना होगा। और यह कार्य एक दो या दस बीस आदमियों का नहीं है। विश्व की उन सभी विचारधाराओं से हमे अपने को परिचित रखना चाहिये,

जो मानवीय दासता की जंजीरों को तोड़ने के लिये प्रयत्नशील हैं, और यदि हम व्यक्तिगत रूप से उस संग्राम में भाग न भी ले सकें तो कम से कम शुभ संकल्प द्वारा तो उनमे सहायता देनी ही चाहिये। बुद्धि जीवियों के लिये अपनी निराशामय परिस्थिति से बचने का एक मात्र उपाय है आसपास के संघर्ष मय जीवन में किसी न किसी प्रकार से सहयोग देना।

जीवन का शास्त्रः—

प्रत्येक लेखक और कवि को अपने जीवन की एक फिलासफी निश्चित कर लेनी चाहिये और सुख तथा दुःख मे तदनुसार अपना वर्ताव रखना चाहिये। यदि हम आँख खोलकर देखे तो हमे पता लगेगा कि इस संसार में करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जो हम से भी अधिक अभागे, साधन-हीन तथा कष्ट पीड़ित हैं। क्या हम उनमे से छोटे से छोटे व्यक्ति के कष्ट को किसी अंश मे दूर नहीं कर सकते? साहित्यप्रेमी अध्यापक अपने होनहार शिष्यो में साहित्यिक रुचि उत्पन्न कर सकते हैं और कवियों तथा कलाकारों के लिये शिष्यो की कमी नहीं होगी। यदि हम अपने तौर तरीके, अनुभवहीन युवकों को बतलावे, अपनी त्रुटियो तथा उनके दुष्परिणामों से उन्हे परिचित करा दे, उनके मार्ग की बाधाओं को यथाशक्ति तथा यथा सम्भव दूर कर दे तो खुद हमे अपने प्रश्नों को हल करने मे भी सहायता मिलेगी। दूसरो की मुश्किलों को आसान करना भी आत्मोन्नति का एक साधन है।

ऋण परिपोधः—

कृतज्ञता को आर्य संस्कृति में बहुत महत्व दिया है। क्या किसी साहित्य सेवी को भी यह बतलाने की जरूरत पडेगी कि वह किस किस का ऋणी है? और बुन्देलखंड मे तो हम लोग अपने पूर्ववर्ती कवियों तथा लेखकों के बहुत ही काफ़ी कर्जदार है। प्राचीन लोगों की बात जाने दीजिये [इस विषय मे बंधुवर गौरीशंकर जी द्विवेदी का उद्योग अत्यन्त प्रशंसनीय है। कीर्ति रक्षको मे वे अग्रगण्य है] आधुनिक काल

के कवियों की स्मृति रक्षा के लिये हमने क्या किया है ? स्वर्गीय मुंगी अजमेरी, कविवर घासीराम जी व्यास तथा रसिकेन्द्र जी के काव्यसंग्रह हम अभी तक प्रकाशित नहीं कर पाये और मुंगी जी तो एक जीवन चरित् के भी अधिकारी थे।

२३ जुलाई, १९२९ के कृपा पत्र में स्वर्गीय घासीराम जी व्यास ने हमें लिखा था:—

"मुझे तो असीम आनन्द हुआ कि इस अज्ञात ऊजड़ देश के एक भूले भटके की ओर आपकी दृष्टि पडी। नहीं तो आज कल पूछता कौन है। सब अपनी अपनी दौड मे मग्न है। और बुन्देलखंडी !, वह न संगठित ही हैं और न आधुनिक पैंतरेबाजी से परिचित ही। नहीं तो क्या इस उर्वरा पवित्र भूमि मे एक भी पन्त, बच्चन या दिनकर न सही, उनका पिछ लगुआ भी पैदा न होता ! होता, अवश्य होता, और हो सकता है. किन्तु सभी को शिकायत है अपनी असमर्थता की, अपनी अवहेलना की, उपेक्षा की, और ठीक भी है। साधन हीन और कमजोर का संसार मे कोई गुजर नहीं !...कई वार अपने लोगों से (जिन्हे अपना समझा था) कहा, सब कुछ कहा, पर किसी का किया कुछ न हुआ। किसी ने कुछ किया भी तो नहीं, सम्भव है उचित न समझा हो या अपने में ही भूले रही हों। खैर इससे क्या, अपने तो सब श्रद्धास्पद- ही है। यह विचार ईश्वर साक्षी है। मैंने अपनी किसी व्यक्तिगत ठेस या दुखसे नहीं प्रकट किये बल्कि अनेक सुरभित सुमन

"अन्त समय निज मातृ भूमि की शीश चढ़ाई धूल"

वहीं के वहीं संसार से दूर अज्ञात, अपरिचित और अछूत रह गये, झड़ गये, किसी ने पूछा भी नहीं, जाना भी नहीं !"

और अपने २१-७-४२ के कृपा पत्र मे श्रीयुत रसिकेन्द्र जी ने कालपी से लिखा था:—

"......मैं क्या और मेरी तुकबन्दियाँ ही क्या ! एक कोने मे, ऐसे स्थान मे जहाँ कोई सहायता एवं सुलभ साधन नहीं है, बैठा बैठा

अपना समय किसी प्रकार तुक बन्दियाँ लिख कर काटता रहता हूँ और करीब ४० वर्ष सेवा करते करते बिता भी दिये हैं । जो कुछ शेष बचे है उन्हे भी इसी प्रकार काट देना चाहता हूँ । ऐसी दशा मे आप मुझे प्रकाश मे लाने की उदारता दिखलाना चाहते हैं । अरे भाई ! बैठे बिठाये क्यो व्यर्थ मे एक झझट मोल ले रहे हो ! जिस कार्य से मैं बचता चला आया, क्योकि यदि ऐसा न होता तो जिस प्रकार आज कल विज्ञापन युग के प्रभाव द्वारा अन्य सहयोगी आगे बढकर लाभ उठा रहे हैं— सम्भव था कि मैं भी लाभ उठा लेता, क्योंकि इसमे संदेह नहीं कि जितने कागज मैंने काले कर डाले है, उनकी संख्या किसी भी प्रख्याति-प्राप्त सहयोगी के कागजो से कम न होगी ।

व्यास जी तथा रसिकेन्द्र जी उच्च कोटि के कवि थे—जिनकी कीर्ति जन-पदीय सीमा को पार कर चुकी थी । उनके पत्रो के अंशों से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है कि इस भूमि बुन्देलखंड मे —

" गुण न हिरानौ गुणग्राहक हिरानौ है "

बुन्देलखंड की इस साहित्यिक तथा सास्कृतिक दुर्दशा की पृष्ट भूमि को ध्यान मे रख कर जो महानुभाव 'दिव्य' जी की ' स्रोतस्विनी ' का पाठ करेंगे उन्हें उसका यथार्थ महत्व समझने मे देर न लगेगी ।

पर आज के प्रत्येक लेखक और कवि का कर्तव्य है कि वह नवीन पीढी को आशा का ही संदेश दे । इसलिये ' दिव्य ' जी की इस विश्वासयुक्त वाणी से हमे हर्ष होता है कि उनके गीत उनकी निराशा पर अवश्यमेव विजय प्राप्त कर लेगे ।

" जिस मृगतृष्णाके मैं पीछे
नाप रहा हूँ आज मरुस्थल,
लॉघ रहा बालू के पर्वत
करके पाहन के युग पदतल
उसके ही ये निर्झर बन कर
पथिको के बन मीत रहेगे
मैं न रहूं, ये गीत रहेगे "

हम एक कदम 'दिव्य' जी से भी आगे बढ़ कर कहते हैं कि 'दिव्य' जी तथा उनके गीत दोनों ही चिरस्थायी जीवन तथा अक्षय कीर्ति प्राप्त करेगे। इस जनपद के जिस साहित्यिक रेगिस्तान मे उन्हें मृग-तृष्णा का आभास हुआ है, वह रेगिस्तान स्वयं कभी न कभी-निकट भविष्य में ही-हरा भरा नखलिस्तान बन जायगा। निस्सन्देह कला कुटीरों तथा साहित्यिक आश्रमो के लिये बुन्देलखंड से बढ़कर भूमि भारतवर्ष में शायद ही कहीं मिले। उन कल्पनाशील कार्यकर्ताओं की प्रतीक्षा कर रही है यह भूमि, जो अपनी निस्स्वार्थ साधना से इस जनपद की साहित्य-वाटिका को हरा भरा बना देगे। हम लोगो का कर्तव्य है कि ऐसे कार्य कर्ताओ के लिये रास्ता तैयार करे।

एक बुन्देलखंड प्रेस की स्थापना, बुन्देलखंड ग्रंथमाला का प्रकाशन और बुन्देलखंड अभिनन्दन ग्रंथ की आयोजना, ये तीन कार्य तो अनिवार्यतः आवश्यक हैं।

यातायात के साधनो से दूर इस भूमिखंड का सम्बन्ध भारत के अन्य प्रगतिशील प्रान्तों से कराना है, यहाँ के नवयुवको में प्रवास की इच्छा को तीव्रतर बनाना है। और यहाँ के क्षुद्र साहित्यिक सरोवरों मे सांस्कृतिक सरिता की स्वच्छ धारा को प्रवाहित कराना है।

यह महायज्ञ—रेगिस्तान को नखलिस्तान बनाना—किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। इसमे हम सब को अपनी अपनी योग्यता शक्ति, तथा सामर्थ्य के अनुसार योग देना चाहिये। बन्धुवर 'दिव्य' जी ने अपनी "स्रोतस्विनी" द्वारा इसी दिशा मे प्रशंसनीय उद्योग किया है, और हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस जनपद के अन्य युवक उनका अनुकरण करेंगे। तब बकौल व्यास जी 'इस अज्ञात ऊजड प्रदेश मे'—इस उजडी वाटिका मे—वसन्त का पुनरागमन होगा—

"अइहैं बहुरि वसन्त ऋतु इन डारन वे फूल"

आम्र-निकुंज
वीर आश्रम,
वसन्त पचमी,
संवत् २००४

बनारसीदास चतुर्वेदी

जीवन-संगीत

१

तू तो अपना गाता जारे,
मधुर मधुर गीतों से अपने,
नीरव गगन गुँजाता जारे।

२

देख न जलते तू सूरज को,
तू तो सन्मुख देख अँधेरा,
सूरज तो है केवल धोखा,
देगा चाहा साथ न तेरा,
दुनिया भरी अँधेरे से है,
अपना दीप जलाता जारे।

३

देख न द्वीप पुंज को पीछे,
तू तो देख सामने सागर,
द्वीप पुंज प्रतिविम्ब ग्रहों का,
डूब जायगी तेरी गागर,
जल ही जल है इस दुनिया में,
अपनी नाव चलाता जारे।

४

देख न भव्य भवन पृथ्वीपर,
देख सामने बीहड़ वन को,
भव्य भवन है चित्र मात्र ही,
कहाँ बसेरा तेरे मन को,
बीहड़ बन ही वन है जग में,
अपनी कुटी बनाता जा रे।

५

देख न हरा भरा तू मालव,
देख सामने बिछा मरुस्थल,
मालव केवल है मृग-तृष्णा
कर मत अपने मन को चंचल,
मरु ही मरु है इस दुनिया में,
अपना बाग़ लगाता जा रे।

६

देख न हँसना तू दुनिया का,
देख सामने आँसू अपने,
हँसना तो है केवल हँसना,
सत्य न होंगे तेरे सपने,
आँसू ही आँसू है जग में,
मन अपना बहलाता जा रे।

७

तेरे गाने में है दुनिया,
दुनिया में है तेरा गाना,

अपने लिये यहाँ तू गा रे,
सुलझा अपना ताना बाना,
साथ साथ गाने के अपने,
अपना राग बजाता जा रे।

गीत बना मैं जाता

१

गाना है वह मुझे सुहाता,
जिसको कोई चलते चलते,
अपने पथ पर गाता।

२

गाता जिसको नाविक कोई,
श्रम से अपनी नौका खेता,
क्षोभ भरे सागर के ऊपर
ताल युगल डंडों से देता,
उसकी तरल मूर्छना मे, मैं
मीन सदृश लहराता।

३

गाता जिसे कृपक है कोई,
निशि में खेत ताकता अपने,
जागरुक आँखों से अपनी,
सतत हटाता सीठे सपने,
उसके स्वर की प्रतिध्वनि बन मै,
मन ही मन दुहराता।

४

गाता जिसे विहॅग है कोई,
उड़ता ऊपर शून्य गगन में,
ऑख किये पृथ्वी पर नीचे,
चिन्ता लिये नीड़ की मन में,

कलरव मे मै उसके घुल-मिल,
मीड सदृश मडराता।

५

गाता जिसे बटोही कोई,
पैर बढ़ाता, अपनी लय से.
सान्ध्य गगन के नीचे वन मे,
पराभूत सा हो कुछ भय से,
उसकी तुमुल पुकारो से मै,
अपने तार मिलाता।

६

गाती जिसको युवती कोई,
सिर पर बोझ लिये जो जाती,
लचती नवती लोल लहर सी,
बढती आगे गगन गुँजाती,
उसके गीतों में मन मेरा,
गागर सा उतराता।

७

गाती जिसको सरिता कोई,
अविरत गिरि-गह्वर से बहती,
भरे जोश जीवन का तन में,
बढती जाती सब कुछ सहती,
उसके नित प्रवाह में मेरा,
तन मन सब बह जाता।

२

८

इन गानों के तुमुल विश्व में,
मुझे न कुछ भी गाना आया,
किसी एक भी गायक से मैं,
अपना लय स्वर मिला न पाया,
जानें पर किसके गाने को,
गीत बना मैं जाता।

अथाह–अन्तर

१

मुझको अपनी थाह न मिलती ।

दिन भर लिखता रहता हूँ मै,
जाने क्या क्या लिख भी जाता,
इदमित्थम् पर लिखना क्या है,
नहीं समझ में कुछ भी आता,
चलती सतत लेखनी जिससे,
अपनी ही वह चाह न मिलती ।

२

प्रायः चित्र खींचता रहता,
एक बनाता एक मिटाता,
किसका चित्र खींचना है पर,
कर भी अपना नहीं बताता,
करता सतत कल्पना जिसकी,
अपनी ही वह छाँह न मिलती ।

३

सोते और जागते नित प्राति,
अद्भुत स्वप्न देखता रहता,
पर क्या स्वप्न देखना अन्तिम,
नहीं कान में कोई कहता,
जिससे आग उगलता रहता,
अपनी ही वह आह न मिलती ।

४

चलता ही यह रहता है मन,
जाता कहाँ कहाँ है जाने,
नहीं समझ मे आता है पर,
जाना है किस ठौर ठिकाने,
जिस पर चलता रहता अविरत,
अपनी ही वह राह न मिलती।

५

दुनिया से हूँ शर्त लगाये,
प्राणों पर नित खेला करता,
पर सर्वस्व जीतना है क्या,
उसका भी कुछ पता न पडता,
जिससे जलता रहता जगसे,
अपनी ही वह डाह न मिलती।

६

डर लगता है सतत मृत्युसे,
नहीं चैन है जीवन रण मे,
सतत ढूँढता रहता हूँ पर,
मन की बात न मिलती मन मे,
जग से दूर, मुझे अपने से,
चाही कही पनाह न मिलती।

जीवन-प्रगति

१

ऊब ऊब उठता है यह मन,
देख पुरातन प्रकृति-नटी का,
सदा एक सा नर्तन ।

२

फिर फिर आता वही दिवस है,
फिर फिर वही रात भी काली,
इन दोनों के बीच न होती,
मन की कोई बात निराली,
दिन मे वही चमकता सूरज,
वही रात के उडगन ।

३

वही वही फिर आतीं क्रमशः,
लौट लौट ये ऋतुएँ परिचित,
घटती उनके बीच न कोई,
घटना अनुपम और अकल्पित,
है छाती या धूल गगन मे,
करते या घन गर्जन ।

४

जीवन से भी मेरे अपने,
उलझी है बस वही पहेली,

दिन प्रति वही वही है धंधा,
वही हवा है वही हवेली,
नहीं श्वास लेने को भी है,
दिशा दूसरी नूतन ।

५

खेल खेलता वही युगों के,
जिन्हें खेलती आई पीढ़ी,
चढ़ता और उतरता हूँ नित,
घर की वही पुरानी सीढ़ी,
खेल रहा जब खेल पुराने,
रहा कहाँ तब बचपन ।

६

वही पुरानी है चिन्तायें,
आ जो रहीं युगो से जीवित,
वही पुरानी है आशायें,
होती है जो पूर्ण कदाचित्,
युवक मुझे कहती है दुनिया,
है न कहीं पर यौवन ।

७

रक्खी नहीं निराशा ने है,
आशा की भी अब अभिलाषा,
कुटिल भाग्य ने है समझाई,
जीवन की दुख-प्रद परिभाषा,
सींच सींच आँखों ने उसको,
ला है दिया जरठपन ।

८

धीरज धरने मे हो पौरुष,
    क्या परिणाम मगर धीरज का,
रज मे मिलना है जब आख़िर
    सारा खेल बना यह रज का,
रंज एक ही है दुनिया मे,
    मन का केवल रंजन ।

बन्धन

१

अब तो मुझसे रहा न जाता ।
दुनिया में भी ज़िम्मेवारी,
मिली मुझे है कितनी छोटी,
अपने ही को पाल रहा हूँ,
खाकर जैसे तैसे रोटी,
रोटी को ही तो इदमित्थम,
जड़वत् मुझसे कहा न जाता ।

२

यह शरीर भी कितना छोटा,
मिला मुझे जो स्वयं लजाता,
आकर सदय भाग्य भी मुझमें,
अपने पैर पसार न पाता,
बैठूँ पैर सिकोड़े चिरतक,
यह भी व्रत तो गहा न जाता ।

३

कितनी छोटी मिली कुटी भी,
लगता सतत शीश पर छप्पर,
आता जो भी भाव हृदय में,
वह भी अपना शीश झुकाकर ।
शीश झुका गाड़ी में जगकी,
मनको पशु सा नहा न जाता ।

४

देख देख कर मै रह जाता,
शून्य गगन का ढक्कन ऊपर,
खिची परिधिसी और चतुर्दिक,
क्षीण क्षितिज सी रेखा भूपर,
घिर रेखा मे, जीवन की तो,
सरिता से भी बहा न जाता।

५

मैं न मुक्ति के हेतु तड़पता,
जकड़ रहे पर बन्धन अपने,
मन भर देख न पाता वेभी,
सतत देखता हूँ जो सपने,
सपने देखूं, देख न पाऊँ,
यह तो मुझसे सहा न जाता।

मन के गीत

१

कैसे गीत लिखूँ मैं मनके,
चिथड़े चिथड़े छोड़े करके,
दुनियाने जीवन के।

२

सिर पर धरी, भरी आशा की,
फोड़ निराशा ने दी गागर,
वह सब गया नयन–जल बनकर.
लहराते सपनो का सागर,
धुल सब गये चित्र सुकल्पित,
ऊँचे हृदय सदन के।

३

असफलता की मनोव्यथा ने,
पीकर प्राणों की शुचि हाला,
उगल सुराही ही मे उर की,
भर है दिया ग्लानि का प्याला,
उड़ा दिये अवहेला ने सब,
रंग मदिर यौवन के।

४

खग से भूखे चिन्ता दल ने,
कुटिल भाग्य के उतर गगन से,
चुग सब लिये शौक जीवन के,
बीन बीन भोजन के कण से,

पड़े जाल अपने ही ऊपर,
नई नई उलझन के।

५

देख असित छाया को अपनी,
सलज नाचती अपने सम्मुख,
कैसे करूँ कल्पना मन मे,
प्रेम पगी परियों की हँसमुख,
कैसे बैठ कुटी में देखूँ,
अभिनय राज भवन के।

६

आह भरे अपने ही स्वर का,
सुन सुन सूने में प्रति गुंजन,
कैसे समझ हृदय में लूँ मै,
राग भरी कोयल का कूजन,
कैसे बैठ मरुस्थल मे मै,
मोद करूँ मधुबन के।

७

ऊँचे भवनो के नीचे से,
सदा निकलना ही है पड़ता,
भाव निचाई का नित अपनी,
बन कर काँटा सा है गडता,
चढ़ने को पर उन तक मिलते,
पैर नहीं कंचन के।

८

बैठा हृदय टटोल रहा मैं,
मगर हाथ में हड्डी आती,
गीत कौन सा लिखूँ बजाकर,
गोरीला सी अपनी छाती,
लगता तोड़ फेंक दूँ सारे,
ताने वाने तन के।

सन्ध्या-समय

१

पूछ रहा यह मन ही मुझसे,
किया आज क्या तूने दिन भर.
क्या बतलाऊं सोच रहा हूँ,
कब का बैठा सागर तट पर।

२

दिन भर मारा सिर दफ्तर मे,
दिन भर की कुछ खाना पूरी,
तब भी खाना हुआ न पूरा
सब इच्छायें बनी अधूरी.
क्या बतला दूं मै इस मनको,
मिलता मुझे न समुचित उत्तर।

३

दिन भर छोड़ी नही लेखनी,
खीची नव रेखायें अगणित
दिखता बना हुआ पर उनसे
नहीं एक भी चित्र स्वकल्पित,
चित्रों के इस ग्राहक मन को,
क्या दिखलाऊँ आगे बढ़कर।

४

छूटी नही हाथ से स्याही,
दिन भर लिखे हज़ारों अक्षर,

दिखती वनी हुई पर उनसे,
नहीं एक भी कविता लघुतर,
कविता के इस प्यासे मन को,
क्या मै आज सुनाऊँ पढ़ कर।

५

दिन भर हुआ न वन्द मुखर मुख,
वोले दिन भर शब्द अपरिमित,
दिखता बना हुआ पर उनसे,
नहीं एक भी गीत विचिन्तित,
गीतों के इस गायक मनको
क्या अंजुलि दूँ स्वर मे भर कर।

६

दिन भर देखी है वे आँखें,
जिन मे कहीं प्रकाश नहीं था,
जीवन की लहरों का उज्ज्वल,
शोभित हास विलास नहीं था,
हास विलास भरे इस मन को,
कैसे कहो हँसाऊँ रोकर।

७

जीनव है यदि इसीलिये यह,
तब तो इससे मरण भला है,
इस जीवन में घुटती फँसकर,
जाने कौन अपूर्व कला है,
कैसे बात करूँ मैं मन की,
जीवन के तारो में बँधकर।

८

आई सन्मुख वह गोधूली,
अपने सुन्दर चित्र दिखाती,
अपने विरचित गीत मनोहर,
मन्द मन्द मृदु ध्वनि मे गाती,
बैठा सोच रहा मै जड़वत्,
वज्रपात सा करके मन पर।

बसेरा

१

मिला न मुझको कहीं बसेरा।

अभ्रंकश प्रासाद बनाया,
फूलों की शुचि सेज बिछाई,
लेटा जगसे नयन बन्द कर,
तब भी निर्दय नींद न आई,
आई भी यदि घड़ी एक को,
आ नश्वर सपनों ने घेरा।

२

सपनों मे भी लगा देखने,
फिर से अपना ही जग निर्मय,
करने लगा और हो सक्रिय,
अपना यही तुमुल फिर अभिनय,
अभिनय मे भी तरल सजल फिर;
दुख सुख ने आ डाला डेरा।

३

सुख मे भी ये लगी न ऑखे,
दुख मे लगती ही क्यो निर्मम,
परे अखिल दुख सुख के धूमिल
मिली न मुझको दुनिया अनुपम,
दिन का देखा नव प्रकाश भी,
रजनी का भी घोर अँधेरा।

४

दिन में देखा अपने ही को,
रजनी में अपनी ही छाया,
परे आपके किसी काल में,
कुछ भी आगे देख न पाया,
कितने ही शुचि चित्र बनाये,
बन कवि गायक और चितेरा।

५

चित्रों में खींची रेखायें,
मन का अपने नीड़ बनाया,
पर उड़कर भावों पर अपने,
कभी नीड़ में बैठ न पाया,
निविड़ नीड़ को ही भावो से,
कौंच कौंच कर सदा बिखेरा।

६

की न कल्पना कौन अलौकिक,
गई न पर अपनी यह हस्ती,
नभ के ऊपर भी तारों में;
देखी अपनी ही यह बस्ती,
सोते और जागते जग में,
रहा भटकता ही मन मेरा।

घर में

१

सब कुछ खोया मैंने घर में,
जब रजनी यौवन में आई,
बनी रम्य रमणी की उपमा,
बैठ गगन के नीचे उसकी,
हुई देखने योग्य सुसुषमा,
रहा देखता मैं अपने को,
पड़ा पड़ा बिस्तर में।

२

जब दिन चढ़ा गगन के ऊपर,
हुआ प्रकाश-प्रसार प्रखरतम,
हुआ घूमने योग्य विश्व का,
हरा भरा उद्यान अनूपम,
पड़ा पड़ा मै रहा घुमाता,
आँखें लघु छप्पर में।

३

रूप गर्विता अरुण उषा ने,
जब अपना शुचि चित्र बनाया,
हुई मधुर मनुहार योग्य जब,
रंग बिरंगी उसकी छाया,
रहा बदलता मै पीड़ित सा,
करवट मानस ज्वर में।

४

जब अतीत की लाँघ क्षितिज को,
उमड़ घुमड़ आई घन माला,
वृष्टि हुई अभिषेक योग्य जब,
धुली अखिल जग की रँग शाला,
छिपा रहा मैं दीवालों के,
अंधे लघु गह्वर मे।

५

झिल मिल आई जब गोधूली,
वेला सी उसपार गमन की,
हुई समझने योग्य पहेली,
बैठ सरित तट जन्म मरण की,
रहा जलाता मैं मन अपना,
घर के दीर्घ उदर मे।

६

तार मिलाने योग्य हुए जब,
तुमुल विश्व-वीणा से अपने,
सच्चे होने को जब उतरे,
मनोनीत दुनिया के सपने,
भरता राग रहा मैं अपना,
ईंट और पत्थर में।

७

घर को था इस हेतु बनाया,
लूँगा अखिल विश्व का सुख मैं,

घर के मारे भोग रहा पर,
अखिल विश्व के संचित दुख मैं,
जाता हूं यदि घर के बाहर,
घर की किसी फ़िकर में ।

तन के मारे

१

बौने से इस तन के मारे,
बैठा सिकुड़ा सा असीम में
विवश मौन सा धारे।

२

बिखरी सन्मुख एक कल्पना,
अपना अद्भुत रूप दिखाती,
मन के भी जो बिना, विश्व को
नित्य नियति के पार लगाती,
मन के होते मैं लग पाया,
यहाँ न किसी किनारे।

३

बिखरे सन्मुख भाव विश्व में,
उमड़ घुमड़ जो छन्द बनाते,
वाणी के भी बिना मनोहर,
अपने राग रागनी गाते,
वाणी होते मैं गा पाया,
गीत न अपने प्यारे।

४

बढ़ता सन्मुख यह प्रकाश भी,
अपना किरण कलाप बढ़ाता,
आँखों के भी बिना अवनि पर,
मनोनीत जो चित्र बनाता,

आखों से मै हटा न पाया,
आँसू ही ये खारे।

५

बिखरी सन्मुख मूक प्रकृति की,
रंग बिरंगी रचना सारी,
बिना करों के भी जो करती
मन मन की नित पच्ची कारी,
कर होते भी मै कर पाया,
कभी न काम बिचारे।

६

आँखों के ही सन्मुख अपने,
है अपार सागर लहराता,
बिना पैर जो लॉघ क्षितिज को,
दोनो पार जोड़ता नाता,
पैरो से मै बिचर न पाया,
इसी पार पर सारे।

७

कैसे मिल असीम मे जाऊ,
कैसे विचरू मुक्त गगन मे,
कैसे तोड़ फोड़ इस तन को,
मिल जाऊं अपने ही मन मे,
तन के कारण ही सब मैने,
खेल यहाँ पर हारे।

कब—तक

१

मै अपना ही बना खिलौना,
अपनी किसी कल्पना से मै,
स्वयं बना हूँ बौना।

२

कभी मनोहर आशा से मै,
फूला नहीं समाता मन मे,
कभी निराशा से है दिखता,
सार न कोई इस जीवन मे,
मुझ पर ही करता मन मेरा,
सारे जादू टोना।

३

दिखती कभी सृष्टि यह सच्ची,
मीठी लगती है यह माया,
कभी शत्रु सी दिखती निर्दय,
अपनी ही यह नश्वर काया,
आती कभी हँसी रोने पर,
कभी हँसी पर रोना।

४

बीत चुका जो जीवन मेरा,
उसके लिये सदा मै रोता,
शेष बचा पर अभी और जो
जाता उसको भी नित खोता,

कभी कठिन दिखता है जीवन,
कभी प्रान ये खोना।

५

कभी जाग कर देखा करता,
कुछ अभीष्ट दुनिया के सपने,
सोकर कभी भुलाया करता,
किये हुए कुछ अभिनय अपने,
सोकर लगता बुरा जागना,
बुरा जाग कर सोना।

६

उठता और बैठता रह रह,
रह रह चलता और मचलता,
किस अज्ञात साधना में रत,
जानें मेरा मन है जलता,
सदा ढूँढ़ता रहता जानें,
किस घर का मै कोना।

७

ऊब चुका मै इस जीवन से,
किससे पूछूँ क्या इदमित्थम्,
अपना ही प्रतिबिम्ब दीखता,
दुनिया की आखों में अनुपम
जानें कब तक है अपने को,
अपने ऊपर ढोना।

एक व्यापार

१

इतनी बात विचार चुका मै,
कुछ भी किया न होता अपना,
सब कुछ करके हार चुका मैं।

२

जब लिखने को बैठा मन कर,
कभी एक भी भाव न आया,
बेमन बैठे कभी हृदय मे,
भावों का सागर लहराया,
लिखा अल्प जो, किसी अलिख का
समझ एक उद्गार चुका मै।

३

बैठा चित्र बनाने को जब,
खींच एक भी सका न रेखा,
बेमन बैठे कभी हृदय पर,
खिचा अखिल त्रिभुवन ही देखा,
जो कुछ रचा, विचित्र किसी का,
समझ एक उपहार चुका मै

४

बैठा जब गाने को मन कर,
मुख से निकला नहीं एक स्वर,
बेमन कभी गुँजाया मैने,
अखिल व्योम मंडल ही गाकर,

गाया जो, अज्ञेय किसी की,
समझ एक गुंजार चुका मैं।

५

मैं हूँ कोई मूर्ख न पागल,
अपना योंही समय बिताता,
योंही मगर बीतता जाता,
कुछ भी कर प्रतिकार न पाता,
जितना बीता—नेति किसी का,
समझ एक अभिसार चुका मैं।

६

किस गौरव का गर्व करूँ मैं,
हूँ मैं धनी यहाँ किस धन का,
जो कुछ किया अभी तक मन भर,
कुछ भी हुआ न मेरे मन का,
मन का करना किसी सुमन का,
समझ एक व्यापार चुका मैं।

भूल

१

मै अपनी ही भूल बना,
अपने मंजुल मग का मै ही,
निर्मम निर्दय शूल बना।

२

मैने ही कर आशा मन में,
घुला एक ली निविड़ निराशा,
और फेंकने लगा तिमिर में,
सगुन देख पैरों का पांसा,
मैं ही अपने पथ पर बहती,
अश्रु–सरित का कूल बना।

३

मैने ही कर एक कामना,
कोमल अन्तस्तल मे अपने,
बोये वंचक इस दुनिया के,
रंग विरंगे सारे सपने,
मै ही दुनिया के विष–तरु की,
अधो गामिनी मूल बना।

४

मैने ही मानस में अपने,
फेंकी पाहन सी अभिलाषा,
तद्भव और ऊर्मियों से की,
जीवन की चंचल परिभाषा,

म ही अपने लिये मृत्यु में,
अमर बेलि का फूल बना।

५

रह सकता था क्या न यहाँ मैं,
बन कर एक विहँग उपवन का,
उड़ता हुआ धरा से ऊपर,
गाता अविरल अपने मन का,
क्यों दुनिया को हृदय लगा कर,
उसके पग की धूल बना।

६

रह सकता था क्या न यहाँ मैं,
बनकर एक गगन का तारा,
दूर क्षितिज पर बैठ देखता,
जड़ जंगम का अभिनय सारा,
क्यों दुनिया से फँसकर उसके,
कटि का मलिन दुकूल बना,

७

रह सकता था क्या न यहाँ मैं,
बनकर एक बदलिया काली,
हो जाती जो ओझल चट पट,
देकर जो छाई मतवाली।
दुनिया के काँटों में चलकर,
क्यों मैं स्वयं बबूल बना।

८

अपनी ही छाया दुनिया में,
अपने व्यंग चित्र दिखलाती,
गूँज गूँज अपनी ही प्रतिध्वनि,
है अपना उपहास उड़ाती,
जितनी धूल समेटी मैंने
उतना ही मैं तूल बना।

बड़प्पन

१

खिन्न सोचता सा कुछ मन में,
जाता था मैं आज मार्ग पर,
नीरव किसी लगन में।

२

सोच रहा था एक मुझे ही,
हेय बनाया क्यों उस विधि ने,
क्यों मेरी ही की अवहेला,
अकथनीय उस जगकी निधिने,
मैंने ही क्या पाप किये थे,
सारे उस जीवन में।

३

कैसे कैसे इस पृथ्वी पर,
बड़े एक से एक पड़े हैं,
कोई किसी, किसी मे कोई,
अचल हिमालय सदृश अड़े है,
मेरे ही बढ़ने को क्या थी,
जगह न अल्प गगन मे।

४

इस शरीर तक से भी मुझको,
कैसा दुर्बल दीन बनाया,
मेरा ही उपहास उडाती,
मेरी ही नित बढ़ कर छाया,

छाया भी यदि होता, रहता,
अपनी एक शरण में।

५

धन से भी यो हीन बनाया,
सिद्ध न होते कोई सपने,
करते प्रकट अभाव न जानें,
कितने छिपे भाव ही अपने,
होता कहीं भाव ही, रहता,
मिट्टी के न भवन में।

६

किया बुद्धिसे भी यो निर्धन,
उर में कोई क्रान्ति न उठती,
अबला सी फँस अन्तःपुर में,
मुझपर स्वयं कल्पना कुढ़ती,
कहीं कल्पना भी यदि होती
फँसता यों न कफन में।

७

अपने ही को देख न सकतीं,
आँखें लगी चमक से जग की,
सतत आँसुओं से है धोती,
मुख से कालिख अपने रँगकी,
कालिख भी यदि होती, चढ़ती,
निर्धन के न वदन में।

८

सोच रहा था यों जब कोई,
आया सहसा मानव सन्मुख,
मुझे समझ क्या जानें उसने,
राम राम की सादर नत-मुख,
मुझे लगा, हूँ जैसे मैं ही
सब से बड़ा भुवन में।

जो कुछ मैंने गाया

१

क्या है विधिने मुझे बनाया,
अपने इस निस्सीम विश्व का,
गौरव स्वयं घटाया।

२

दृष्टि फेंकता जब मै ऊपर,
दिखती नभ की अमित ऊँचाई,
खुद सी जाती मेरे उर मे,
उतनी ही गहरी सी खाई,
मन मेरा अपने ही ऊपर,
चढ़ता नही चढ़ाया।

३

कभी देखता जब पृथ्वी को,
फैला आगे नील निलय तक,
बढ़ते पैर सिकुड़ है जाते,
मेरे अपनी ओर हृदय तक,
बढ़ती नही बढ़ाये अपनी,
अपने आगे छाया।

४

सजल देखता जब मेघो को,
हो अपने भावों में परिणत,
ढलकर अपनी ही कविता में,
होते अखिल विश्व मे गुंजित,

लगता मुझे मिला दूँ अपनी,
　　उनमे नश्वर काया ।

५

कभी देखता जब अपने को,
　　तुच्छ एक गुड़िया सा चलता,
अपनी किसी कल्पना की ही,
　　गोदी मे शिशु सदृश मचलता,
लगता मुझे मिला दूँ अपनी,
　　अपने में सब माया ।

६

कुछ भी यदि बन पाता मन का,
　　बनता एक गीत मै अपना,
और गूँजता परे आपके,
　　लघु संसार जीत मै अपना,
मुझसे तो अच्छा है मेरा,
　　जो कुछ मैनें गाया ।

आत्मिक-भावना

१

कैसे साथ चलूँ मैं मन के,
कैसे स्वप्न करूँ मैं पूरे,
नश्वर इस जीवन के।

२

लगता तोड़ फोड़ दूँ तन को,
निराकार मन में मिल जाऊँ,
देख रहा हूँ जिन सपनों को,
उनमे वन प्रसून खिल जाऊँ,
बैठा सिकुड़ा सा असीम मे,
कारण इस जड़ तन के।

३

कहने को ये पाई आँखें,
कुछ भी देख न पाया हूँ पर,
सब कुछ यहाँ देखने पर भी,
छिपा दीखता कोई भीतर,
जिसके बिना शुष्क से लगते,
सारे दृश्य गगन के।

४

सुन भी पाया नहीं और कुछ,
पाये सुनने को श्रुत सुन्दर,

सब कुछ सुनने पर भी लगता,
शेष अभी है कोई प्लुत स्वर,
जिसके बिना न मीठे लगते,
कोई गीत पवन के।

५

कह भी पाया नहीं और कुछ,
कहने को यह पाई वाणी,
कहने पर भी सब कुछ लगता,
भीतर कोई छिपी कहानी,
जिसके बिना शुष्क से लगते,
कौशल अखिल कथन के।

६

पाकर भी आजानु बाहु ये,
कर भी सका न कुछ भी पूरा,
करने पर भी सब कुछ लगता,
करने को कुछ अभी अधूरा,
जिसके बिना न खुलते फंदे,
कारक कर्म करण के।

७

मिले पैर भी गमन शील युग,
नहीं मगर कुछ भी चल पाया,
चलने पर भी इतनी वर्षों,
दिखता कहीं न मंज़िल आया,
जिसके बिना हिसाब अधूरे,
सारे चाल चलन के।

पहला–तारा

१

भावों का होतीं भव सारा,
होता एक भाव मैं अपना,
अपने से भी प्यारा।

२

नभ ने भी निस्सीम यहाँ पर,
मुझे एक सीमा मे घेरा,
पृथ्वी ने भी एक क्षितिज से,
घेर दिया परितः घर मेरा,
अपना ही शरीर यह मुझको,
वना हुआ है कारा।

३

ऑख वन्द कर देखा मैने,
दिखी एक ही व्यापक माया,
ऑख खोलते अपनी ही लघु,
दिखी पृथक अपने से छाया,
ऑखों ने ही मेरी मुझको,
किया विश्व से न्यारा।

४

विना करों के मैने कितने,
ऊँचे ऊँचे क़िले वनाये,
पर न करो से कर भी अपने,
किसी किले तक उठे उठाये,

रुका करों के मारे ही सब,
मेरा काम बिचारा।

५

चला बिना पैरों के जब जब,
गया न जाने कहाँ कहाँ मैं,
पैरों से चल जग में अपने,
दोही पद चल बैठ रहा मैं,
पैरों ने ही रोकी मेरी,
चलती जीवन धारा।

६

हृदय हीन हो देखा मैंने,
दिखे न कोई सुख दुख जग में,
हो सहृदय जड़ चेतन को सब
देखा अपने अपने रँग में,
एक हृदय के मारे ही मैं
अपने ही से हारा।

७

जिसे देखता उसके ही ये,
बनने को है मन ललचाता,
इस शरीर के मारे अपनी,
नहीं छाँह भी पर बन पाता,
मन के मारे ही मैं अपने,
फिरता मारा मारा।

८

देखा करता हूँ मै सस्पृह,
नदी किनारे बैठा भूपर,
गोधूली मे, परे क्षितिजके,
इस निस्सीम गगन के ऊपर,
जाने क्यों है मुझे लुभाता,
उगता पहला तारा ।

भव–सागर

१

अपने ही भीतर भव–सागर,
कैसे पार करूँ अपने को,
अपना हाथ पकड़ कर ।

२

भरा अथाह आँसुओं का जल
तिमिर निराशा का है छाया,
उर के भीतर भँवर बनाकर,
घुमा रही है निर्मम माया,
कहीं पार का पता न अपने,
राह चतुर्दिक भूपर ।

३

लोल लहर सा मोह ग्राह बन,
उछल रहा है ऊपर प्रति पल,
जला रहा नीचे से जग को,
किसी जलन का उठ वडवानल,
मिलता नहीं टटोले तल तक,
कहीं ध्येय का भूधर ।

४

है शंकाओ की गोधूली,
दिखते नहीं भाग्य के तारे,
उन्मन के घन घिरे हुए है,
घेरे नयन लोक को सारे,

कहीं चाह की राह न दिखती,
चलूँ कौन से पथ पर।

५

जुगनू सी लघु आशा के बल,
तृण सा साहस धारे उर मे,
कैसे पहुँचूं रंग विरंगे,
स्वप्न लोक के अन्तःपुर में,
धस जाता है रज धीरज का,
पैर रोपते क्षण भर।

६

भीतर के इस सागर से भी,
वनी महा सागर है दुनिया,
जिसके तूफ़ानों का दुर्दम,
हुआ न अब तक कोई गुनिया,
गुनते डूब बीच ही जाता,
नौका सा नर जर्जर।

७

पडता कफ़न पाल सा ऊपर,
मस्तूलो से कर गिर जाते,
कर्णधार से प्राण प्रवंचक,
छोड बीच में ही उड़ जाते,
बंजर सी सव साधें मन की,
होतीं विखर अगोचर।

८

डाल दिया मैने तो अपने,
मन मे बेफ़िकरी का लंगर,
भावो से उठते है तन मे
और बडे भूकम्प भयंकर,
लगना होगी पार जहाँ पर,
लग जावेगी गागर ।

मनोभिलाषा

१

बात कहूँ क्या अपने मन की,
थाह न मिलती मुझको ढूँढ़े,
अपने पागलपन की।

२

नभ में देख घटाये घन की,
लगता उन्हें बनाकर घोड़ा,
चढ़ूँ हाथ मे ले, सोने सा,
विद्युत का लहराता कोड़ा,
फिरूँ क्षितिज के और चतुर्दिक
पकड़ लगाम पवन की।

३

शशि को देख शरद के लगता,
चढ़ूँ पकड़ कर किरणे उसतक,
बैठ गोद में उसकी, देखूँ,
शैशव के फिर सपने अपलक,
करूँ सैर दुनिया से ऊपर,
दुख से मुक्त, गगन की।

४

गोधूली मे देख तिमिर को,
श्रमित पथिक सा घर को आते,

सिर पर बोझ लिये तारों का
मन्द मन्द मृदु ध्वनि में गाते,
लगता है घुल जाऊं उसकी
लय मे शुचि गायन की,

५

देख उषा को, उठ प्रभात में
लिये करो में कनक कटोरी,
तरल तूलिका से किरणों की
करते नभ पर चारु चित्योरी,
लगता है बन जाऊँ रेखा,
कोई उस अंकन की।

६

देख देख लहरों को चंचल
करते अभिनय सा सागर मे,
लगता भरलूँ उनको अपने,
मानस की लघु सी गागर में,
अनुभव करूँ और मस्ती का
उनके चल यौवन की।

७

देख देख अपने को लगता,
हो अदृष्ट इस जग से जाऊँ.
अपनी किसी कल्पना में ढल,
ढुलक किसी कविता मे जाऊं,
गूँज उठे जो ओक ओक मे,
सारे इस त्रिभुवन की।

८

सुन मेरे अद्भुत भावों को,
है सारी यह दुनिया हँसती,
मिलती है पर मुझको उनसे,
एक अलौकिक सी कुछ मस्ती,
उतर ताप सी जाती जिससे,
क्षण को इस जीवन की।

विचार-वेदना

१

सोचा करता हूँ मैं उन्मन,
मेरा भी क्या किसी अर्थ का,
है दुनिया में जीवन।

२

जीवन है उस सरिता का जो,
अपने मे भी नहीं समाती,
फूल लहर से अपने उर की,
अपना आगे मार्ग बनाती,
जिसके आगे मार्ग न कोई,
उसका भी है क्या मन।

३

जीवन है उस सागर का भी,
जिसको अपनी थ्याह न मिलती,
पड़ा अटल है जो अपने मे,
उर मे कोई आह न मिलती,
जला दिया आहों ने जिसको,
उसका है क्या यौवन।

४

जीवन है उन मेघो का भी,
जिसकी कोई रूप न रेखा,
जिनने अपने को नित अपने,
भावो में है परिणत देखा,

भाव घाव हो जिसके उर मे,
उसका क्या भावुकपन ।

५

घिरा पोखरे सा मै घर मे,
दिखती कोई राह नहीं है,
सिर पर खड़ा सुखों का दिग्गज,
पर न भाग्य का ग्राह कहीं है,
पड़ा ग्रहण मे मै ही, मुख से,
निकल न पाता निश्वन ।

६

लिपटा शेष सदृश आशा से,
डाल मोह का मन्दर भीतर,
सुरुचि कुरुचि से होकर प्रेरित,
सुर सा कभी असुर सा बनकर,
करता रहता हूँ अपने ही,
शुष्क हृदय का मंथन ।

७

कल की रहती क्यों उत्कंठा,
कल होना क्या बात निराली,
नये चमकते किन तारों से,
आना है कल रात निराली,
कितने कल तो देख चुका पर,
बरसा कभी न कंचन ।

८

खींच रहा है आयु चीर सा,
बन कर काल कुटिल दुश्शासन,
किसे बुलाऊँ दिखता खाली,
आँखों में यह सारा त्रिभुवन,
जाना निश्चय नग्न किसी दिन,
गवाँ सभी मन का धन।

सार–बात

१

सोच रहा क्या मानव मन मे,
मन का तेरे कभी न होना,
सारे इस जीवन में।

२

होना तुझको क्या न हुआ जो,
है तेरी क्या उर अभिलाषा,
जो हो रहना है पर तेरी,
अपनी ही विरचित परिभाषा
हो आसीन उच्च आसन पर,
उच्च न होना तन मे।

३

बढ़ने से आँखों मे अपनी,
अल्प न बढ़ना आँखें तेरी,
पार क्षितिज के देख न पाना,
वस्ती वह अविराम अँधेरी,
कितना ही तू तेरे मानव
पानी और पवन में।

४

दुनिया रंग मंच है केवल,
सजी हुई तरु विटप विपिन से,

गिरता निशिमें पर्दा जिस पर,
खुलता और निरंतर दिन से,
घर है तेरा यहाँ कहाँ पर,
पृथ्वी पर न गगन में।

५

अचल यौवना प्रकृति नटी है,
सूत्रधार है पुरुष पुरातन,
मिट्टी का पुतला तू मानव,
है तेरा यह खेल सनातन,
तेरा अपना नहीं यहाँ कुछ,
भूल न अपने पन में।

६

जलता है दीपक आशा का,
धूम्र निराशा का सिर धारे,
देख न पाता जिसे बेध कर,
कोई कुटिल भाग्य के तारे,
तेरी मृग मरीचिका मानव,
तेरे बनी भवन में।

७

जन्म मरण के बीच भोगना,
दुनिया के सब भोग भयानक,
है इसके अतिरिक्त न कोई,
जीवन का कुछ और कथानक,
यही कथा है मिलती युग युग,
तेरे सभी कथन में।

८

जग का यह सम्पूर्ण कोलाहल,
    है वीणा का तरल तुमुल स्वर,
जिससे ही स्वर तुझे मिलाना,
    हँस कर कभी, कभी रो गाकर
यति है किसी नियति की मानव,
    तेरे प्रति नर्तन में।

अज्ञात—उत्कंठा

१

कभी कभी लगता यों मन में,
मर के भी तो देखूँ क्षण को,
क्या होता है तन में।

२

देख लबालब भरा तीर तक,
लगता डूब मरूँ मैं सर मे,
बन कर सलिल अनिल से खेलूं,
मिल कर चंचल किसी लहर में,
तैर न पाती तन की तरिणी,
खुल कर इस जीवन में

३

जलती देख चिता को धूधू,
होती है उत्कंठा उर में,
देखूँ स्वयं पैठ क्या होता,
ज्वालाओं के अन्तःपुर मे,
पिघल न पाता हृदय स्वर्ण सा,
तन की अल्प तपन मे

४

लगता पियूँ हलाहल जलता,
जिससे दुनिया सदा डराती,

देखूँ उसको भी तो पीकर
नई कौन सी पीड़ा आती,
परिचित पीड़ासे है आते,
आँसू भी न नयन में

५

मरे हुए हैं देखे कितने,
पर न बुलाने से वे बोले
इस दुनिया की ओर न उनने
कभी लौट कर फिर दृग खोले
मस्त हुए जानें वे ऐसे,
कौन अलौकिक धन में

६

जले, सिराये गये नीर में,
गये धरा में भी दफनाये,
मूक हुए जानें किस सुख से,
नहीं अल्प भी वे चिल्लाये,
भूले बरौना भी, सोये,
जाने कौन शयन में

७

देख चुका हूँ जीवन का मैं,
दुनिया में रह मज़ा निराला,
भावों ने ही मेरे मुझको,
अमित अभावों में है डाला,
नहीं अवनि से भी उठ पाता,
ऊर्मिल इस यौवन में।

८

बैठा खेल रहा पृथ्वी पर,
बना धूल के यहाँ घरौंदे,
कर ऊँचा प्राचीर ध्येय का,
दे दे आशाओं के गोंदे,
लाँघ न पाता पर अपने को,
अपने ही बन्धन में।

मेरी–कहानी

१

मै क्या अपनी लिखूँ कहानी,
लिखते ही भर आता मेरे,
सदय दृगों मे पानी।

२

मै पानी का बुदबुद हूँ वह,
जो इस भव सागर के ऊपर,
उलटी गागर सा उतराता,
बिना भाग्य भावी के भूपर,
मिट जाना है जिसे न अपनी,
कोई छोड़ निशानी।

३

लिखने योग्य किया क्या मैने,
चढ़ा कौन से गिरि पर ऊँचे,
ऊँचे सदा भाव ही अपने
अपनी परिधि बीच है खींचे,
आकर मेरे उर मे रोई,
सदा कल्पना रानी।

४

मिलता लिखा उसे भी लगता,
बिना पढ़े ही आज जला दूँ,

पर न समझ में आता कर को,
कुटिल लकीरें कहाँ गला दूँ,
जिनके कारण मन ने मेरे,
धूल सदा है छानी।

५

सकरुण छाया ही ने मेरे,
जीवन भर है चित्र बनाये,
दुख प्रद मेरे और क्षणों में,
कर आकर्षित मुझे दिखाये
और न मैंने है जीवन में,
दया किसी की जानी।

६

मेरी प्रतिध्वनि ने ही मेरे,
मर्म भरे गीतों को गाया,
और डूबते उर में मेरे,
जीवन को अविराम जगाया,
और न किसी सुहृद की मैंने,
प्रीति यहाँ पहचानी।

७

शीशे ने ही मेरे मुख को,
होकर सदा सदय है देखा,
की अंकित है और हृदय पर,
मेरे मुख की रेखा रेखा,
मिला न मुझको और दयामय,
कोई परिचित प्राणी।

८

बैठा आज अकेला घर में,
देख रहा हूँ अपने ही को,
मिले भाव मानस में कोई,
समझाने को अपने जी को
अपनी एक बात ही जिसने,
है जीवन भर मानी ।

घर के भीतर

१

क्यों तू घर में बैठा रोता,
निकल देख घर से भी बाहर,
प्रकृति बीच क्या होता,

२

सुषमा की साकार मूर्तिसी,
हँसते चिर यौवन में अपने,
बुला रही है उषा गगन में
देख रहा तू किसके सपने,
किस युवती के क्षणिक रूप में,
लगा रहा तू गोता।

३

मंजु हास्य का शुचि प्रतीक सा,
लहराता है सन्मुख सागर,
ले ले जाती जिससे दुनिया,
भर भर अपनी अपनी गागर,
मलिन आँसुओं में किस दुख के,
तू अपना मुख धोता।

४

शत शत हाथो से भर सूरज,
बरसाता है भूपर कंचन,

फूल फूल उठते जड़ चेतन,
लूट लूट कर मनोनीत धन,
किस धन की फिर तू चिन्ता में,
अपना जीवन खोता।

५

अरे देख यह दूर क्षितिज से,
आता है किस तरह अँधेरा,
जग की मनस्ताप को देता,
अटल शान्ति की गोद बसेरा,
किस नारे को तू दोहराता,
बना हुआ जड़ तोता।

६

देख निशा यह कितनी सुन्दर,
कितने सुन्दर हैं ये तारे,
इन्हें देखते ही खुल पड़ते,
लगे भाग्य के भी दृढ़ द्वारे,
किस अभाग्य का बीज बना तू,
अपने को है बोता।

७

कल का पता न कहीं प्रकृति में,
कल की कहता कौन कहानी,
बरस रहा ऊपर मेघों से,
सद्य प्रसूत आज का पानी,
किस अतीत की याद दुखद तू,
मन पर अपने ढोता।

८

देख शीश के ऊपर अपने,
कितनी विस्तृत है नभ-शाला,
पृथ्वी ने भी पैरों नीचे,
कितना बड़ा पाँवड़ा डाला,
बना हुआ बन्दी सा क्यों तू,
घर के भीतर सोता।

नया—जीवन

१

खुल से जाते बन्धन मन के,
आते ही लघु घड़ी एक को,
नीचे खुले गगन के।

२

खुल से जाते किसी विचिन्तित,
पुस्तक कैसे पन्ने सन्मुख,
हो जाते है विस्मृत जिसको,
पढ़ कर जग के सारे सुख दुख,
घुल जाते है भाव अलौकिक,
मधु में किसी सुमन के।

३

खुल सी जाती निविड़ यवनिका,
किसी अपरिचित अंतःपुर की,
जिसमें बसती कोई सुषमा,
भूले किसी स्वप्न के उरकी,
जिसे देखते खिल उठते है,
रंग मंदिर यौवन के।

४

खुल से जाते पलक सम्पुटित,
किन्ही अगोचर नयनों के शुचि,

जिन से दिखती बिखरी जग में,
अपनी एक नई सी अभिरुचि,
आ जाते हैं भाव समझ में,
नभ में उड़ते घन के।

५

घर अपना भी बन्दीगृह है,
भले कई हैं उसमें द्वारे,
लगे और है नहीं किसी में,
लोह सींकचे और किवाँरे,
कसता सदा शिकंजे में है,
तार तार को तन के

६

घर में खड़ी प्रहरियो सी दृढ़,
घेरे रहती है दीवालें,
छप्पर की लकड़ी के अगणित,
कंधों पर संगीन सम्हाले,
नहीं कल्पना भी उड़ पाती,
गह्वर से आँगन के।

७

घर मे है अपराध सज़ा का,
घर ही का बस एक बसाना,
दंड एक है चौबिस घंटे,
घर की चक्की ठीक चलाना,
डाल डाल कर मुख में उसके,
दानें नित प्रति धन के।

८

घर मे सदा घिरे रहने से,
भला घड़ी भर ढोर चराना,
किसी बिपिन मे जहाँ प्रकृति का,
मिलता अनुपम खुला खजाना,
गीत निकलते खुले हृदय से,
किसी खुले जीवन के।

सरोवर-तट पर

१

लगता अब न उठूं इस तट से,
जानें किस अज्ञात लोक के,
खुले यहाँ पर पट से।

२

व्याकुल मरने को गहरे से,
किसी घाव को मेरे तन के,
देख मास सा दूर क्षितिज पर,
सदय-दौड़ते दल को घन के,
मन सा मिला दूसरा मुझको,
जग के मुक्त कपट से।

३

करती सी अभिसार प्यार से,
बैठे हुए पार पर मुझ तक,
आलिंगन के लिये विकल सी,
देख सलिल लहरों को अपलक,
मिला मुझे यौवन सा रति की,
सुलझा दूषित लट से।

४

सुभग सुनहली स्वर्ग लोक की,
तरल सुरा से भरा लबा लब,

शशि को देख लगा आँखों के,
ओठो से प्याला सा अभिनव,
मिला मुझे जीवन सा नूतन,
जग की दूर लपट से।

५

जावे कौन यहाँ से घरको,
चली राह पर फिर से चलकर,
घर में होगा वही दीप फिर,
भरता धूम्र आह सी जलकर,
नाच रहे फिर होगे घरके,
वही रोग सब नट से।

६

फूँक रही फिर होगी रह रह,
जला अस्थियाँ चिन्ता चूल्हा,
दे आशा समझाता होगा,
सपना कोई बनकर दूल्हा,
मुझे पकड़ने को फिर होंगे,
भाव खड़े दृढ़ भट से।

७

शिशुओ सी उत्सुक उत्कंठित,
अपनी अपनी लिये कथायें,
खड़ी द्वार पर होंगी मुझसे,
दौड़ लिपटने को इच्छायें,
होगी माया माँ सी बैठी,
टिकी किसी चौखट से।

८

आते ही इस तट पर मुझ को,
मिला नया सा अपना परिचय,
देखा करता मैं दुनिया में,
सतत एक अपना ही अभिनय,
निकल कुए से आया मेंढक
निकल न पाता घट से।

अपने तार मिला ले

१

तूभी अपना मन बहला ले,
दुनिया के चलते अभिनय में,
अपना भाग बटा ले।

२

मन बहलाने को ही होते,
दुनिया मे सारे परिवर्तन,
सुख दुख का क्यो भेद लगाता,
देख देख कर उनका नर्तन,
आवे जो भी सुखदुख सन्मुख,
हँस कर हृदय लगा ले।

३

होता है क्यों दुखी हृदय में,
रजनी का तू देख अँधेरा,
नहीं अँधेरा दुख का पोषक,
दिन को देता वही बसेरा,
आई रजनी देख धरा पर,
तू भी सेज सजा ले।

४

किस शैशव की याद लिये है,
खिलते इस यौवन में अपने,
यौवन मे ही सच्चे होते,
देखे शैशव में जो सपने,

आ यौवन में रंग बिरंगे,
गीत प्रणय के गा ले।

५

देख डूबते सूरज को क्यों,
मन में मलिन निराशा लाता,
डूब डूब कर ही नित सूरज,
तेरे लिये प्रभात बनाता,
आई संध्या देख अवनि पर,
अपना दीप जला ले।

६

क्यों करता है दुखद कल्पना,
नभ से देख बरसते पानी,
पानी ही से लिखी हुई है,
इस दुनिया की अखिल कहानी,
आई पावस देख सामने,
घर से निकल नहाले।

७

क्यों करता है मन को धूमिल,
धूमिल देख क्षितिज की रेखा,
खड़ा क्षितिज के ऊपर ही तू,
दूर जिसे है तूने देखा,
दोनों ओर देख सुखदुख के,
मन को अल्प उठा ले।

८

करना ही है और यहाँ क्या,
जैसे हो यह मन बहलाना,
मन बहलाने को ही पाया,
तूने हँसना, रोना, गाना,
जिससे चाहे तू दुनिया में,
अपने तार मिला ले।

मन की रानी

१

रजनी मेरे मन की रानी,
रजनी के अंचल में मैने,
प्रीति रीति पहचानी।

२

दिन ने की जो दुर्गति मेरी,
कहते होती मुझे निराशा,
बना मुझे छोड़ा दुनिया का,
अद्भुत सा कुछ एक तमाशा,
आशा के बस मैंने दिन में,
धूल सदा ही छानी।

३

दिन ने ही मुझको दौड़ाया,
मरु मे अपने ही माया के,
पीने को ऑखो का पानी,
नीचे अपनी ही छाया के।
दिन मे मैने अपनी ही लघु,
त्रुटियॉ देख न जानी।

४

दिन ने ही मेरी ऑखों के.
सन्मुख छाया सदा अॅधेरा,

दिया और अवहेला की नित,
छत के नीचे मुझे बसेरा,
दिन ने ही की जागृत मुझमें,
विस्मृत पीर पुरानी।

५

रजनी ने बन वासक सज्जा,
मेरी सुन्दर सेज बिछाई,
लगा हृदय से मुझको अपने,
तन की सारी ताप मिटाई,
भर आँखों में आँखे अपनी
अनुपम कही कहानी।

६

रजनी ने बन प्रौढ़ा मुझको,
निद्रा की मृदु सुरा पिलाई,
सपने में कर अपने मनकी,
मेरे मन की की चतुराई,
मैने भी करली अपनों की,
दुनिया में मन मानी

७

रजनी ने बनकर रति प्रीता,
सारे नभ में तिमिर बिछाया,
मेरे अपने भी प्रकाश को,
अपने उर के बीच छिपाया
बन्द किया मेरे भी मुख को,
खगो सदृश सुन वाणी।

८

दूर आज दिन की दुनिया से,
रहूँ दूर ही लगता मन में,
शीतल इस रजनी सी रूपसि,
कहाँ मिलेगी इस जीवन में,
लगता चिरतक इस रजनी से,
पड़े न सेज उठानी ।

मेरी अपनी प्रगति

१

मै तो आगे बढ़ता जाता,
गाता हुआ मार्ग पर अपने,
जो कुछ मुझको आता।

२

कोई कहता अति महत्व दे,
होती मधुर न तेरी भाषा,
मैं पर केवल देखा करता,
अपनी मंजु मधुर अभिलाषा,
अभिलाषा के नवोल्लास में,
भाषा कौन सजाता ।

३

कोई कहता नहीं समय के,
है तेरा अनुकूल विषय यह,
मैं पर केवल देखा करता,
अपना सपनों भरा हृदय यह,
किसे हृदय के आगे दिखला,
जीर्ण समय का खाता।

४

कोई कहता शब्दों का भी,
मुझको उचित चुनाव न आता,

मै पर केवल देखा करता,
आता है या भाव न आता,
भावों के आगे शब्दों का,
भाव कौन ठहराता,

५

कोई कहता लिखने में भी,
कर जाता हूँ प्राय: त्रुटियाँ.
मै पर केवल देखा करता,
मानस की उत्ताल लहरियॉ,
तुमुल लहरियो के गायन मे,
ताल कौन दे पाता ।

६

मै विहंग अज्ञात लोक का,
अपना नीड ढूँढने निकला,
ज्ञात न मुझको कब बक जाती,
क्या क्या मेरी वाणी विकला,
विकला वाणी के लय स्वर मे,
कौन ढूँढता नाता ।

७

शोभा है उन्मुख पागल के,
करने में लथ पथ ही अभिनय,
बकने मे बाते मन मानी,
बेगति, बेतुक, बेसुध, बेलय ।
गाता है लय स्वर मे अल्हड़,
कौन विहँग मदमाता ।

मै पर केवल देखा करता,
आता है या भाव न आता,
भावों के आगे शब्दों का,
भाव कौन ठहराता,

५

कोई कहता लिखने में भी,
कर जाता हूँ प्रायः त्रुटियॉ.
मै पर केवल देखा करता,
मानस की उत्ताल लहरियॉ,
तुमुल लहरियो के गायन में,
ताल कौन दे पाता ।

६

मै विहंग अज्ञात लोक का,
अपना नीड ढूँढने निकला,
ज्ञात न मुझको कब बक जाती,
क्या क्या मेरी वाणी विकला,
विकला वाणी के लय स्वर मे,
कौन ढूँढता नाता ।

७

शोभा है उन्मुख पागल के,
करने में लथ पथ ही अभिनय,
बकने मे बाते मन मानी,
बेगति, बेतुक, बेसुध, बेलय ।
गाता है लय स्वर मे अल्हड़,
कौन विहॅग मदमाता ।

मन का उन्मन

१

शेष न जाने कितना जीवन,
जानें किस दिन जाना होगा,
छोड़ प्रकृति का आँगन।

२

हो जाती यदि बात ज्ञात कुछ,
बाँध सुचित हो लेता बिस्तर,
जाना पड़े न कहीं छोड़ के
जल्दी मे सब तितर बितर घर,
छूट जाय कुछ अपना, जावे
साथ किसी का कुछ धन।

३

बिखरी पड़ी मनोहर कितनी,
दुनिया मे मन की आशायें,
भाषा मे है हुई न परिणत,
उर की कितनी अभिलाषायें,
कितने भावो का करने को,
पड़ा हुआ अभि व्यंजन।

४

कितने पड़े सुचित्र अधूरे,
कितनी पड़ी और कवितायें,

नहीं धूल से भी उठ पाई,
शैशव की कितनी इच्छायें,
जाना पड़े न छोड़ कहीं ये,
शव में ही शुचि यौवन।

५

हो अभिन्न जो लगी हृदय से,
हृदय सदृश ही प्राण प्रदा बन,
सपनों के साकार रूप से
सुमनों की नवत्राण प्रदा बन,
जाना पड़े न किसी लता का,
छुड़ा सुदृढ़ आलिंगन।

६

तरु से निकले कुसुम सदृश नव
सद्य जात शिशुओ से संकुल,
किसी बिहँग वाला के उर की
बिविध लालसाओं के वंजुल।
जाना पड़े न तोड़ नीड़ का
नीचे से अवलम्बन।

७

जिसमें आकर भवन बसाया,
और एक नूतन भव ढाला,
गला और भावो को अपने,
पिया विचिन्तित मधु का प्याला,
है अति खेद, देखने को वह,
फिर न मिले पुरपट्टन।

८

दिखता यद्यपि दूर क्षितिज है,
 है वह पैरों ही के नीचे,
मध्य गेंद का वहीं जहाँ पर,
 उँगली पड़े नयन ये मींचे,
अमर भले हो पर इस मन से,
 जाना कभी न उन्मन।

अव्यक्त आह्वान

१

दूर क्षितिज से प्रति ध्वनि आई,
सारी गूँज उठी नभ-शाला,
ज्ञात हुआ उस पार छिपा है,
मेरा कोई रूप निराला।

२

उसी दिशा को गमनशील हूँ,
अवगत कोई रहा बुला सा,
जाती दृष्टि जहाँ तक अपलक,
पड़ा दीखता द्वार खुला सा।

३

बीच मार्ग मे संभ्रम कोयल,
बैठी नव रसाल की डाली,
कुहू कुहू कर राह बताती,
उसी दिशा को उड़ मतवाली।

४

नील निलय के निबिड़ पटल पर,
रजनी का तम तोम हटाते,
छोटी छोटी किरण करों से,
तारे शत शत मार्ग बनाते।

५

नीरव निर्जन सघन विपिन में,
दौड दौड़ कर आगे आगे,

शशक तोड़ते लघु चरणों से,
झाड़ी झुरमुट के नव तागे।

६

रखती कनक–कलश कादम्बिनि,
तोरण इन्द्र-धनुष शुचि रचता,
शत शत चन्द्र धरणि पर बिखरा,
तुमुल कलापी रुनझुन नचता,

७

कलरव करते विविध विहगम,
रंग विरंगे पंख पसारे,
उड़ उड़ बाँध कतार गगन में
शुभग बाँधते वन्दनवारे।

८

उषा और संध्या रवि शशि की
लिये करों मे कनक कटोरी,
किरण कूंचियों से रँग भरकर,
करती सुन्दर चारु चित्योरी।

९

कुसुमों में भर रोरी अक्षत,
पहने धूप छाँह की साड़ी,
स्वागत हेतु खड़ी है आगे,
प्रकृति सजाये नव फुलवाड़ी।

१०

पग पग मेरे पैर काँपते,
हृदय डूबता अपने ही मे,

वन वन आप विगड़ते धूमिल,
शत शत कोमल स्वप्न घड़ी में।

११

कैसा होगा देश वहाँ का,
होगा क्या आलोक वहाँ भी,
बँधे प्राण आशा से होंगे,
छोरेगा क्या शोक वहाँ भी,

१२

लेने देती चैन यहाँ भी,
नहीं कल्पना निविड़ वहाँ की,
लगने लगती रंग रँगीली,
सीठी सारी सृष्टि यहाँ की।

१३

खिंच जाते है ताने बाने,
प्राणों के चढ़ अम्बर ऊपर,
बिछ जाती है काली काली,
चादर घोर घटा सी भूपर।

१४

उड़ जाती है आश कपोती,
बिखरी छोड़ नीड़ की लकडी,
बुन देती है जाल तिमिर का,
प्रकृति नाशनी बनकर मकडी।

१५

गिर जाती है छूट अधर से,
अरुण मदिर यौवन की हाला,

पडता अपने ऊपर आकर,
उलट एक मिट्टी का प्याला।

१६

गिर जाता मन सुमन अगोचर,
टूट कामिनी कनक लता से,
चढ़ता अपनी ही समाधि पर,
पहुँच किसी अव्यक्त पता से।

१७

हिल जाता है अचल हिमालय,
हो जाते सब अवयव ढीले,
अम्बुध के आ जाते आँसू,
होते गगत पलक है गीले।

१८

जैसा होवे है तो आखिर,
यहाँ एक जग अपना जाना,
आगे तो जाना ही जाना,
नहीं कहीं कुछ ठौर ठिकाना।

१९

तब भी जाना छोड यहाँ का,
मीठा अपना तुमुल तराना,
बुला रहा है दूर क्षितिज में
देखो कोई फिर मस्ताना।

अन्तिम अभिसार

१

एक दिवस मैं मिल समीर मे,
एकाकी अभिसार करूँगा,
गूँज विश्व के तार तार में,
अपने ही से प्यार करूँगा,

२

सता रही है सृष्टि यहाँ की,
मृग—मरीचिका बन ललचाती,
जाना कितनी दूर कहाँ है,
अपना अन्तःपुर न बताती,

३

करती कुछ छल छद्म न जानें
जाने कुछ या अपना अभिनय
इंगित उसके समझ न आते,
बना स्वयं इंगित सा अपभय।

४

निर्जन नभ में बैठ यामिनी,
तारो का नित हार बनाती,
खड़ा देखता मै रह जाता,
जाने किसको वह पहनाती।

५

प्रात अरुण का स्वर्ण कलस सा,
भर लाती है उषा रँगीली,

मै प्यासा पीता हूँ आंसू,
वह न पिलाती बूंद लजीली।

६

दूर क्षितिज से प्रति ध्वनि आती,
मानो कोई अपना आता,
ऑख खोलते ही पर दिखता,
शून्य विपिन में मै ही गाता।

७

द्वार खोलती सी है दिखती,
जल मे लहरें मृदु हासिनि,
मुझे बुलाती मेरी ही शुचि,
छाया बनकर वार विलासिनि।

८

दिन भर के इस देखे जग को,
ढक लेता जब आन अधेरा,
मेरे ही वह चित्र खींच कर,
मुझे डराता दीपक मेरा।

९

सपनो की साकार रूप सी,
ले अवतार युवतियॉ आती,
मिल भी जातीं और मार्ग पर,
पर अंक भर हृदय लगातीं।

१०

किसकी किसकी कहूँ कहानी,
नहीं यहॉ पर कौन सताते,

मानस में जो भाव भरे है,
वे भी नहीं छन्द मे आते।

११

मेरी स्वयं् कल्पना मुझको,
कुछ ऐसा बेचैन किये है,
किसी एक अव्यक्त लोक का,
मूक निमंत्रण मुझे दिये है।

१२

उलझ रही उत्कठा उरसे,
उड़ उड़ जाती ऊपर आशा,
खोल यवनिका नभ की देखूँ,
होता भीतर कौन तमाशा।

१३

तोड़ रही है मचल आत्मा,
ताने बानें अन्तर्पट के,
फसी हुई सागर की मछली,
उछल रही है बाहर घट के।

१४

किस दिन होगा इस शरीर को,
तोड़ फोड़ कर मै चल दूगा,
घुल मिल विधि के इस-प्रपंच मे
सपनो को अपना कर लूँगा।

मेरे गीत

१

मै न रहूँ ये गीत रहेंगे,
मेरी सभी निराशा पर ये,
कर के निश्चय जीत रहेंगे ।

२

आलिंगन में किसी नियति के,
आज चमकते है जो तारे,
जिन्हे सतृष्णा देखणा हूँ मै,
आयत अपने नयन पसारे।
गूँज सितारो पर ये उनके,
तारों सदृश सप्रीति रहेंगे।

३

प्यासा खड़ा हृदय को थामें,
जिस सरिता के आज किनारे,
उतर न पाता, कूद न पाता,
करते है भयभीत कगारे ।
बनकर उसकी ही ये लहरे,
शीतल सुखद सशीत रहेंगे ।

४

जिस मृग–तृष्णा के मै पीछे,
नाप रहा हूँ आज मरुस्थल,
लॉघ रहा बालू के पर्वत,
करके पाहन के युग पदतल ।

उसके ही ये निर्झर बनकर,
पथिकों के वन मीत रहेंगे।

५

मुझे देखकर जो ललनायें,
घाल सलज लेती हैं घूंघट,
करता हूँ सुस्निग्ध कल्पना,
जिनके मुखकी बेध बेध पट,
उनके ही ये दुखद समय के,
बनकर शुचि संगीत रहेंगे।

६

करती है जो दुनिया मेरी,
आज ईर्षा से अवहेला,
सिकुड़ा सा मैं दूर दूर से,
देखा करता जिसका मेला,
उसके ही ये श्रान्त समय के
बनकर पेय पुनीत रहेंगे।

७

गीतो में है मेरे दुख की,
निहित एक अति मधुर कहानी,
बनी हुई है जिसकी दुनिया,
सुख का दिये मुकुट पट-रानी,
नीरा पिला उसे ये अपनी,
उसके बने प्रणीत रहेंगे।

८

डाह मुझे है आज इन्हीं से,
दिखता इनका भाग्य समुज्ज्वल,
मेरे तरल आँसुओं से ये,
होकर प्रकट खिले ज्यों शतदल,
मैं अतीत का क्रीत बनूँगा,
ये बन कालातीत रहेंगे।